विचार बिन्दु

मेरे दायें हाथ में कर्म है और बायें हाथ में जय! –अथर्ववेद

आत्मकथा : लेखक का सच, पाठक की अपेक्षाएं

दूसरों के जीवन में झांकना मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है और आत्मकथा हमें यह मौका देती है। और फिर, यदि आत्मकथा किसी ऐसे व्यक्ति की हो जिसका सार्वजनिक जीवन, राजनीति और सत्ता के गलियारों से गहरे जुड़ाव रहा हो तो यह उत्सुकता कई गुना बढ़ जाती है। पाठक केवल उसके जीवन की कहानी नहीं जानना चाहते, वे उन घटनाओं के भीतर झांकना चाहते हैं जिनके वे स्वयं भी किसी न किसी रूप में साक्षी रहे हैं। सोनिया गांधी की सद्य प्रकाशित आत्मकथा: Belonging: A Journey of Love को लेकर भी कुछ ऐसा ही माहौल है। भारतीय सार्वजनिक जीवन में सोनिया गांधी की सुदीर्घ और प्रभावशाली उपस्थिति ने उनकी आत्मकथा में हमारी दिलचस्पी को बहुत बढ़ा दिया है। यही वजह है कि उनकी आत्मकथा के बाजार में आते ही चर्चाओं का बाज़ार गर्म हो गया है। लगता है जैसे पूरा भारतीय समाज दो खेमों में बंट गया है। लेकिन इस पूरे प्रसंग को केवल सोनिया गांधी के राजनीतिक समर्थन या विरोध के चश्मे से देखना शायद उचित नहीं होगा। यह अवसर आत्मकथा नाम की एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विधा और उसे पढ़ने के हमारे तौर-तरीकों पर विचार करने का भी है।

आत्मकथा आखिर है क्या? क्या वह अपने जीवन का सिलसिलेवार ब्यौरा है? क्या वह घटनाओं, व्यक्तियों और तारीखों का ऐसा विवरण है जिसे इतिहास की किताब की तरह परखा जा सके? या वह अपने जीवन को पीछे मुड़कर देखने, समझने और उसका अर्थ तलाशने की एक कोशिश है? वस्तुत: आत्मकथा इन सबका मिला-जुला रूप हो सकती है। लेकिन सबसे पहले वह लेखक का अपने जीवन के साथ संवाद है। इसमें घटनाएं जितनी महत्त्वपूर्ण हैं, उतना ही महत्त्वपूर्ण है उन घटनाओं को देखने वाला व्यक्ति, उसकी स्मृतियां, उसकी संवेदनाएं और उसका दृष्टिकोण। इस विधा की खूबी यह है कि इसमें व्यक्ति अपने बारे में बोलता है। वह अपने समय, परिवेश, संबंधों, सफलताओं और असफलताओं को अपने ढंग से देखता है। वह चाहे तो अपनी कमजोरियों को स्वीकार करे, अपनी भूलों पर पछताए, अपनी उपलब्धियों का बखान करे या कुछ अनुभवों को निजी रखे। आत्मकथा का कोई एक अनिवार्य ढांचा नहीं है। न ही यह आवश्यक है कि हर आत्मकथाकार अपने जीवन के प्रत्येक प्रसंग पर समान विस्तार से बात करे।

हमारी और दुनिया की अनेक प्रसिद्ध आत्मकथाएं इस विविधता की साक्षी हैं। महात्मा गांधी कीसत्य के प्रयोगमें उनकी नैतिक और आध्यात्मिक यात्रा के साथ कमजोरियों, भूलों और प्रयोगों का भी उल्लेख है। इसका महत्त्व इस बात में है कि गांधी स्वयं को किस निर्ममता से परखने का प्रयास करते हैं। जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथा में एक व्यक्ति के बौद्धिक विकास के साथ अपने समय की राजनीति और राष्ट्रीय आंदोलन का व्यापक परिदृश्य उपस्थित होता है। हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा-श्रृंखला क्या भूलूँ क्या याद करूँ, नीड का निर्माण फिर, बसेरे से दूर और दशद्वार से सोपान तकनिजी जीवन, परिवार, प्रेम और साहित्य के अनेक रंग सामने लाती है। अमृता प्रीतम की रसीदी टिकट एक स्त्री के निजी अनुभवों और संवेदनाओं की बेबाक अभिव्यक्ति है। इसी क्रम में प्रभा खेतान की अन्या से अनन्या और मन्नू भंडारी की एक कहानी यह भी को भी याद किया जा सकता है। और इन्हीं के साथ याद की जा सकती हैं दलित आत्मकथाएं भी, जिनमें ओमप्रकाश वाल्मीकि की जूठन प्रमुख है।

विदेशी आत्मकथाओं में रूसो की Confessions का उल्लेख जरूरी है, जिसमें उन्होंने अपने व्यक्तित्व के उन पक्षों को भी सामने रखा जिन्हें छिपाना अधिक सुविधाजनक हो सकता था। बेंजामिन फ्रैंकलिन की आत्मकथा आत्मनिर्माण, श्रम और सार्वजनिक जीवन की कहानी है। नेल्सन मंडेला की Long Walk to Freedom में एक व्यक्ति का संघर्ष दक्षिण अफ्रीका की मुक्ति और नस्लभेद के विरुद्ध आंदोलन की कथा से जुड़ जाता है। माया एंजेलो की Know Why the Caged Bird Sings निजी अनुभवों के माध्यम से नस्लीय भेदभाव, स्त्री होने की चुनौतियों और आत्मसम्मान की लड़ाई का चित्र उभारती है। इन आत्मकथाओं की विषयवस्तु और लेखन शैली अलग-अलग हैं, लेकिन इनमें एक समानता है। हर लेखक ने अपने जीवन को अपनी दृष्टि से देखा और प्रस्तुत किया है। यही आत्मकथा की मूल प्रकृति है।

इस संदर्भ में अपने समाज की ओर देखें तो एक विचित्र स्थिति दिखाई देती है। हम दूसरों के जीवन में गहरी दिलचस्पी लेते हैं, लेकिन अपने बारे में कुछ कहने की बात आती है तो सहज नहीं रह जाते। अपनी कमजोरियों, असफलताओं, ईर्ष्याओं, महत्वाकांक्षाओं, गलत निर्णयों और निजी संबंधों के अंतर्विरोधों को सार्वजनिक करना हमें कठिन लगता है। इसके पीछे हमारे सामाजिक संस्कार भी हैं। हमारे यहां व्यक्ति की प्रतिष्ठा अक्सर परिवार और समुदाय की प्रतिष्ठा से जुड़ी होती है। अपने बारे में कुछ ऐसा कह देना जो परिवार की स्थापित छवि के अनुकूल न हो, पूरे परिवार को असहज कर सकता है। अपनी गलती स्वीकार करना भी सहज मानवीय व्यवहार के बजाय कमजोरी समझ लिया जाता है। सार्वजनिक जीवन में सक्रिय लोगों को यह आशंका भी रहती है कि उनके किसी निजी स्वीकार को राजनीतिक हथियार बना लिया जाएगा। यहीं मुझे हरिवंश राय बच्चन याद आते हैं जिन्होंने लिखा था:– मैं छुपाना जानता तो जग मुझे साधु समझता/ शत्रु मेरा बन गया है, छल रहित व्यवहार मेरा। इसलिए हमारे यहां आत्मकथा लिखने वाला व्यक्ति कई बार अपने जीवन का लेखा-जोखा देने के बजाय अपना पक्ष रखने लगता है। वह अपने समय का साक्षी कम और अपने पक्ष का वकील अधिक दिखाई देता है। यह भी संभव है कि वह कुछ प्रसंगों को जानबूझकर छोड़ दे या उन्हें इस तरह प्रस्तुत करे कि उसकी अपनी छवि पर आंच न आए। लेकिन क्या इससे उसकी आत्मकथा को पढ़ने और समझने की हमारी जिज्ञासा और जिम्मेदारी समाप्त हो जाती है? क्या किसी आत्मकथा में आत्मरक्षा या आत्मऔचित्य की प्रवृत्ति दिखाई देने पर उसे एक झटके में खारिज कर देना चाहिए? मुझे ऐसा नहीं लगता। यह भी लेखक के व्यक्तित्व और उसकी आत्मदृष्टि को समझने का एक सूत्र हो सकता है।

इस बात को समझा जाना चाहिए कि आत्मकथा केवल किसी और की ज़िंदगी में झांकने का सुराख नहीं होती है। वह हमें भी आत्मावलोकन का अवसर सुलभ कराती है। आत्मकथा की सार्थकता इसी में है कि वह हमें किसी दूसरे व्यक्ति को उसके अपने सच के साथ समझने का अवसर देती है, और पाठक की परिपक्वता इसमें है कि वह उस सच को परखते हुए भी लेखक के दृष्टिकोण का सम्मान करना सीखे।

यहां आत्मकथा और इतिहास के बीच का अंतर समझना जरूरी है। आत्मकथा इतिहास की पुस्तक नहीं है, हालांकि इतिहास के अध्ययन के लिए वह महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध करा सकती है। इतिहासकार अनेक स्रोतों, दस्तावेजों और परस्पर विरोधी विवरणों की जांच करता है। आत्मकथाकार अपने अनुभवों और स्मृतियों के सहारे अतीत को देखता है। स्मृति कोई कैमरा नहीं है जो हर घटना को उसी रूप में सुरक्षित रखे। और फिर कैमरे का भी कोई न कोई एंगल होता है। समय के साथ कुछ घटनाएं धुंधली पड़ती हैं, कुछ अधिक स्पष्ट हो जाती हैं और कुछ का अर्थ बदल जाता है। इसलिए आत्मकथा में किसी घटना के विवरण का लेखक की स्मृति और दृष्टिकोण से प्रभावित होना स्वाभाविक है।

यहीं से आत्मकथा को पढ़ने का सलीका सामने आता है। हमें यह देखने की कोशिश करनी चाहिए कि लेखक ने क्या लिखा है, न कि इस बात पर नाराज होना चाहिए कि उसने क्या नहीं लिखा। उसने किसी घटना को किस तरह देखा, किन प्रसंगों को महत्त्व दिया, किन्हें छोड़ दिया और अपने जीवन के बारे में क्या निष्कर्ष निकाला, इन सब पर विचार किया जा सकता है। उसकी स्थापनाओं से असहमति भी हो सकती है। लेकिन यह उम्मीद करना कि वह अपनी आत्मकथा में वही सब लिखेगा जो हम उससे लिखवाना चाहते हैं, उसके साथ अन्याय होगा। हर व्यक्ति को अपने जीवन की निजता और अपने अनुभवों के चयन का अधिकार है। कोई व्यक्ति अपने जीवन के सभी प्रसंग सार्वजनिक करने के लिए बाध्य नहीं है। किसी आत्मकथा में किसी प्रसंग का उल्लेख न होना उस प्रसंग के बारे में किसी निष्कर्ष का आधार नहीं बन सकता। लेखक की चुप्पी को स्वीकारोक्ति मान लेना भी उतना ही अनुचित है जितना उसकी हर बात को अंतिम सच मान लेना।

हां, इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि आत्मकथाकार को तथ्यात्मक शुद्धता की जिम्मेदारी से मुक्त कर दिया जाए। यदि वह कोई ऐसी बात कहता है जो प्रमाणित ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत है, तो प्रमाणों और साक्ष्यों के आधार पर उसका खंडन होना चाहिए। सोनिया गांधी की इस किताब में ऐसी अनेक चूकों और ग़लतियों की तरफ ध्यान आकर्षित किया भी गया है। यदि किसी दूसरे पक्ष के पास किसी उल्लिखित घटना का भिन्न विवरण है तो उसे भी सामने आना चाहिए। आत्मकथा के लेखक का सम्मान करने का अर्थ उसके हर कथन को स्वीकार करना नहीं है। लेकिन असहमति का आधार तथ्य और तर्क होना चाहिए, हमारी राजनीतिक पसंद-नापसंद या पूर्वनिर्धारित अपेक्षाएं नहीं।

सोनिया गांधी की आत्मकथा के संदर्भ में भी यही कसौटी अपनाई जानी चाहिए। उनकी कही हुई बातों की जांच हो, उनके निष्कर्षों से असहमति हो तो तर्क सामने आएं। किसी घटना के उनके विवरण को दूसरे उपलब्ध प्रमाणों के साथ रखकर परखा जाए। लेकिन यह अपेक्षा कि वे अपनी आत्मकथा में उन सभी प्रश्नों के उत्तर दें जो उनके राजनीतिक विरोधियों के मन में हैं, या उन सभी प्रसंगों पर अपनी बात रखें जिन्हें पाठक महत्त्वपूर्ण मानते हैं, उचित नहीं होगी। यह उनका जीवन है, उनका अनुभव है और उसे प्रस्तुत करने का उनका अपना तरीका है। पुस्तक का मूल्यांकन उसमें लिखी गई बातों के आधार पर होना चाहिए, न कि पाठक की अपूर्ण रह गईं अपेक्षाओं के आधार पर। हम किसी के अनुभवों से सहमत हों या असहमत, उनसे कुछ सीखें या उन्हें चुनौती दें, यह हमारा अधिकार है। लेकिन किसी व्यक्ति को अपने अतीत का ऐसा हिसाब देने के लिए बाध्य करना, जो हमारी कल्पना और अपेक्षा के अनुकूल हो, पाठकीय उदारता नहीं है। आत्मकथा लेखक का आत्मकथ्य है, पाठक की प्रश्नावली नहीं। लेखक अपने जीवन को जिस रोशनी में देखता है, उसी में उसे हमारे सामने रखता है। पाठक को उस रोशनी की तीव्रता पर सवाल उठाने का अधिकार है, उसे दूसरी रोशनी में देखने का भी। लेकिन यह अधिकार नहीं कि वह लेखक से अपनी पसंद की रोशनी में अपना जीवन दिखाने की मांग करे।

इस बात को समझा जाना चाहिए कि आत्मकथा केवल किसी और की ज़िंदगी में झांकने का सुराख नहीं होती है। वह हमें भी आत्मावलोकन का अवसर सुलभ कराती है। आत्मकथा की सार्थकता इसी में है कि वह हमें किसी दूसरे व्यक्ति को उसके अपने सच के साथ समझने का अवसर देती है, और पाठक की परिपक्वता इसमें है कि वह उस सच को परखते हुए भी लेखक के दृष्टिकोण का सम्मान करना सीखे।

–अतिथि संपादक,
डॉ. दुर्गाप्रसाद अग्रवाल
(शिक्षाविद और साहित्यकार)

पुरुष खलनायक और नारी देवी समान, कहीं यह सामाजिक अन्याय तो नहीं?



सुनील दत्त गोयल

आज के सामाजिक विमर्श में एक अजीब तरह का माहौल बनता जा रहा है। ऐसा लगता है जैसे पुरुष और महिला दो बराबर इंसान नहीं, बल्कि एक पीड़ित और दूसरा हमेशा दोषी पक्ष हैं। महिलाओं के साथ होने वाले अत्याचारों के खिलाफ आवाज उठाना बिल्कुल जरूरी है, लेकिन क्या हर पुरुष को संभावित अपराधी मान लेना भी न्याय है? क्या पति या पुरुष का होना ही उसे संदेह के घेरे में खड़ा करने के लिए पर्याप्त है?

नारी को अबला कहकर सदियों तक उसके साथ अन्याय हुआ, इसमें कोई दो राय नहीं। लेकिन इसका समाधान यह नहीं हो सकता कि अब पुरुष को हर समस्या की जड़ और हर रिश्ते का खलनायक बना दिया जाए। नारी को देवी बनाने की कोशिश में भी हमने उसका सामान्य मानवीय अस्तित्व छीन लिया था। कभी उसे अबला कहा, कभी देवी कहा, कभी त्याग और बलिदान की प्रतिमूर्ति बना दिया। जरूरत इस बात की है कि महिला को महिला ही रहने दिया जाए, एक स्वतंत्र और सम्मानित इंसान के रूप में। ठीक उसी तरह पुरुष को भी केवल कमाने वाली मशीन, कठोर व्यक्ति या संभावित अपराधी समझना बंद करना होगा।

परिवार पति और पत्नी दोनों से बनता है। दोनों के अधिकारों के साथ जिम्मेदारियां भी समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। बराबरी का अर्थ यह नहीं कि एक पक्ष को कानून और सामाजिक सहानुभूति मिले, जबकि दूसरा हमेशा सफाई देता रहे।

नारी अधिकारों के नाम पर कानूनी सुरक्षा के दुरुपयोग पर भी चर्चा जरूरी है। यदि कोई पत्नी पति को मानसिक या शारीरिक रूप से प्रताड़ित करे, वैवाहिक विवादों में मुकदमे की धमकी दे या उसकी भावनाओं और आत्मसम्मान की अनदेखी करे, तो ऐसे व्यवहार को नारीवाद नहीं कहा जा सकता। समानता का अर्थ अधिकारों के साथ जवाबदेही भी है, चाहे मामला किसी भी पक्ष का हो।

बराबरी का मतलब अधिकारों की बराबर हिस्सेदारी है, अत्याचार करने की छूट नहीं। यह सवाल इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि पुरुषों के मानसिक उत्पीड़न पर सार्वजनिक चर्चा बेहद कम दिखाई देती है। किसी पुरुष के साथ वैवाहिक हिंसा हो, उसे लगातार अपमानित किया जाए, उसकी कमाई पर नियंत्रण रखा जाए, उसे बच्चों से दूर करने की धमकी दी जाए या उसके खिलाफ झूठे आरोप लगाए जाएं, तो समाज अक्सर उसे गंभीरता से नहीं लेता। उलटे उससे कहा जाता है, तुम पुरुष हो, सहन करो। यही सोच बदलनी होगी। मीडिया में महिलाओं के साथ अन्याय को प्रमुखता मिलती है, लेकिन मानसिक प्रताड़ना, अपमान या झूठे आरोपों से पीड़ित पुरुषों की कहानियां अक्सर अनसुनी रह जाती हैं। यह दोहरा मापदंड भी चिंता का विषय है।

महिलाओं के खिलाफ घरेलू हिंसा, दहेज उत्पीड़न और यौन अपराध वास्तविक समस्याएं हैं, जिनके खिलाफ मजबूत कानून जरूरी हैं। लेकिन कानून के दुरुपयोग पर भी निष्पक्ष चर्चा होनी चाहिए। विवाह युद्ध का मैदान नहीं है। पति-पत्नी एक-दूसरे को प्रतिद्वंद्वी समझने लगें, तो नुकसान केवल उनका नहीं, पूरे परिवार का होता है। इसका सबसे बड़ा नुकसान बच्चों को होता है।

बच्चे यह नहीं देखते कि कानून किसके पक्ष में है, वे सिर्फ देखते हैं कि माता-पिता एक-दूसरे के साथ कैसा व्यवहार कर रहे हैं। लगातार तनाव, मुकदमेबाजी और आरोप-प्रत्यारोप उनके मानसिक विकास को प्रभावित कर सकते हैं। इसलिए गंभीर अपराध या वास्तविक सुरक्षा खतरे को छोड़कर, हर वैवाहिक विवाद को तुरंत कानूनी युद्ध बनाने के बजाय संवाद, परामर्श और मध्यस्थता को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। दुनिया के अधिकांश देशों में कानून का मूल सिद्धांत समान कानूनी संरक्षण है। भारत का संविधान भी समानता और कानून के समक्ष समान संरक्षण की गारंटी देता है। फिर भी महिलाओं की सुरक्षा के लिए कई लिंग-विशिष्ट कानून और प्रावधान मौजूद हैं। सवाल यह है कि क्या ये प्रावधान न्याय सुनिश्चित कर रहे हैं या कहीं लैंगिक असंतुलन भी पैदा कर रहे हैं? कानून का उद्देश्य किसी एक लिंग को विशेषाधिकार देना नहीं, बल्कि हर नागरिक को समान न्याय, सुरक्षा और गरिमा देना होना चाहिए।

कानून और मीडिया, दोनों स्तरों पर एक और सवाल महत्वपूर्ण है। मुकदमा सही हो या गलत, फैसला बाद में होता है, लेकिन महिला की पहचान अक्सर छिपी रहती है और पुरुष का नाम जल्दी सार्वजनिक हो जाता है। बाद में निर्दोष साबित होने पर भी तब तक उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा और करियर को नुकसान हो चुका होता है। क्या अदालत के फैसले से पहले ही किसी व्यक्ति को दोषी मान लेना न्यायसंगत है?

कानूनी व्यवस्था का एक पहलू और विचारणीय है। महिला से जुड़े मामलों में महिला पुलिस थानों और कई बार महिला अधिकारियों या न्यायिक अधिकारियों की भूमिका को प्राथमिकता दी जाती है। सवाल है, क्या इसका अर्थ यह है कि पुरुष अधिकारियों की निष्पक्षता पर भरोसा नहीं किया जा सकता? और यदि ऐसा नहीं है, तो फिर यह व्यवस्था अपने आप में लैंगिक असमानता का संकेत क्यों न मानी जाए? आखिर पुरुष की बात कौन सुनेगा? यदि शुरुआत से ही यह मान लिया जाए कि महिला की बात महिला अधिकारी ही बेहतर समझ सकती है, तो क्या इससे न्यायिक प्रक्रिया शुरू होने से पहले ही एक तरह का पूर्वाग्रह पैदा नहीं होता?

आज महिलाएं शिक्षा, रोजगार और हर क्षेत्र में तेजी से आगे बढ़ रही हैं और कई क्षेत्रों में नेतृत्व भी कर रही हैं। यह निश्चित रूप से सकारात्मक बदलाव है। लेकिन समानता के साथ यह सवाल भी जरूरी है कि विशेष अधिकारों की सीमा क्या होनी चाहिए। किसी एक वर्ग की सुरक्षा दूसरे वर्ग के अधिकारों की कीमत पर नहीं होनी चाहिए।

कानून का उद्देश्य पुरुषों को कटघरे में खड़ा करना नहीं, बल्कि हर नागरिक को समान न्याय, सुरक्षा और गरिमा देना होना चाहिए। पुरुष कोई अलग प्रजाति नहीं है। वह भी किसी का बेटा, भाई, पति या पिता है। हर पुरुष को संभावित खलनायक मानने की सोच परिवार और समाज दोनों के लिए नुकसानदेह है। हमें ऐसा समाज बनाना है जहां पुरुष और महिला एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि सहयोगी हों।

एक कचौरी, दो समोसा, इन मर्दों का क्या भरोसा!

नारी अपने आप की, नहीं किसी के बाप की!

इस तरह के कथित नारे आजकल सड़कों पर, टीवी और सोशल मीडिया पर से सुनने को मिलते हैं। इससे यह सवाल उठता है कि हमारी नई पीढ़ी की कुछ लड़कियाँ किस दिशा में जा रही हैं, उनकी सोच का स्तर क्या है और उनके भविष्य की दिशा क्या होगी। इस पर मुझे अलग से टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है।

अभी हाल ही में इन्हीं प्रदर्शनों के दौरान एक वीडियो वायरल हुआ, जिसमें बहुत-सी महिलाएँ इस तरह के नारे गा रही थीं। वहाँ डीजे चलाने वाले पुरुष थे, शराब परोसने वाले पुरुष थे और बाउंसर भी पुरुष ही थे। उन्हीं पुरुषों के सामने ये नारे लगाए जा रहे थे। तो जब पुरुषों पर भरोसा ही नहीं है, तो सबसे पहले बाउंसरों को हटाकर देखिए कि फिर क्या होता है!

अगर इन महिलाओं को पुरुषों से इतनी ही तकलीफ है, तो वे अपने घर जाएँ। घर में उनके पिताजी, भाई, नाना, मामा, दादा, फूफा और जीजा जैसे रिश्तों में पुरुष ही मिलेंगे। पहले उनकी आँखों में आँखें डालकर उनसे सवाल करें और उन्हें थप्पड़ मारें। उनसे कहें कि हमें तुम पर भरोसा नहीं है।

ऐसी घटनाओं से यही सवाल उठता है कि आखिर इन महिलाओं को पुरुषों पर भरोसा करना है या नहीं, और यदि नहीं, तो उनके इस विरोधाभास का आधार क्या है?

क्या आपने कभी अपने पूरे जीवनकाल में किसी पुरुष या मर्द को इस तरह के नारे लगाते हुए देखा या सुना है? पुरुष अकेले ही अपनी यात्राओं में कठिनाइयाँ और पीड़ाएँ सह लेता है, लेकिन इस तरह की बेतुकी बातें नहीं करता।

प्रकृति ने जीवन की संरचना ही नर और मादा के संतुलन और सहयोग पर आधारित की है। मनुष्य हों, पशु-पक्षी हों या वनस्पतियां, जीवन की निरंतरता के लिए प्रकृति ने अलग-अलग जैविक भूमिकाएं निर्धारित की हैं। परागण से लेकर प्रजनन तक, प्रकृति का मूल सिद्धांत सहयोग और संतुलन है, संघर्ष नहीं।

लैंगिक समानता का अर्थ पुरुष और महिला को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करना नहीं, बल्कि दोनों को समान सम्मान, अवसर और न्याय देना है। नारीवाद का उद्देश्य महिलाओं को पुरुषों से ऊपर उठाना नहीं, बल्कि बराबरी का अधिकार दिलाना है। पुरुष का सम्मान, मानसिक स्वास्थ्य, आत्मसम्मान और पिता होने के अधिकार भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं। महिला के साथ अन्याय हो तो आवाज उठनी चाहिए और पुरुष के साथ अन्याय हो तो भी। झूठे आरोप लगाने वाला कोई भी हो, उसकी जवाबदेही तय होनी चाहिए। कानून महिलाओं की सुरक्षा करे, लेकिन निर्दोष पुरुषों को भी न्याय मिले।

असली लक्ष्य पुरुष या महिला की जीत नहीं, बल्कि न्याय की जीत है। महिला को सम्मान देने के लिए पुरुष का अपमान जरूरी नहीं है। यही वास्तविक समानता का आधार है।

–रोटेरियन सुनील दत्त गोयल,
महानिदेशक, इम्पीरियल चैंबर ऑफ़ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री।

भारतीय पंथनिरपेक्षता की अवधारणा : संविधान सभा की बहसों का पुनर्पाठ

बॉम्बे उच्च न्यायालय की दीपावली संबंधी टिप्पणियों के संदर्भ में



सूर्यप्रतापसिंह राजावत

बॉम्बे उच्च न्यायालय की हालिया टिप्पणियों ने दीपावली, पर्यावरण संरक्षण और भारतीय पंथनिरपेक्षता की अवधारणा को लेकर एक बार फिर संवैधानिक विमर्श को प्रासंगिक बना दिया है। दीपावली के अवसर पर पटाखों से होने वाले प्रदूषण के प्रति जागरूकता फैलाने के उद्देश्य से अभिनेता दीया मिर्जा द्वारा प्रस्तुत एक वीडियो को बृहन्मुंबई महानगरपालिका (बीएमसी) के सोशल मीडिया मंचों से हटाए जाने का मामला न्यायालय के समक्ष आया। इस प्रकरण पर सुनवाई करते हुए न्यायमूर्ति गिरीश एस. कुलकर्णी और न्यायमूर्ति डॉ. नीला गोखले की खंडपीठ ने प्रश्न उठाया कि क्या भारत एक पंथनिरपेक्ष राष्ट्र नहीं है? न्यायालय ने कहा कि किसी व्यक्ति को केवल उसके धर्म अथवा पंथ के आधार पर किसी त्योहार के उत्सव से अलग नहीं किया जा सकता। पर्यावरण संरक्षण किसी एक धर्म या समुदाय का विषय नहीं, बल्कि सभी नागरिकों की साझा जिम्मेदारी है, क्योंकि सभी एक ही वायु में साँस लेते हैं।

न्यायालय की ये टिप्पणियाँ हमें एक महत्त्वपूर्ण संवैधानिक प्रश्न पर पुनर्विचार करने का अवसर देती हैं– भारत में पंथनिरपेक्षता का वास्तविक अर्थ क्या है? क्या इसका अर्थ सार्वजनिक जीवन से धर्म और आध्यात्मिक परंपराओं को पूरी तरह अलग कर देना है, अथवा भारतीय पंथनिरपेक्षता की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक और सभ्यतागत विशेषताएँ हैं? इन प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए वर्तमान पीढ़ी, विशेषकर न्यायपालिका और संवैधानिक पदों पर आसीन व्यक्तियों को संविधान सभा की बहसों का पुन: अध्ययन करना चाहिए। संविधान की व्याख्या उसके निर्माण के समय हुए वैचारिक विमर्श और ऐतिहासिक परिस्थितियों से अलग करके नहीं की जा सकती।

इसी संदर्भ में 27 दिसंबर 1948 को संविधान सभा में एच. वी. कामथ द्वारा प्रस्तुत संशोधन संख्या 1146 पर हुई बहस विशेष महत्त्व रखती है। उन्होंने शपथ अथवा प्रतिज्ञान के प्रारूप में परिवर्तन का प्रस्ताव रखते हुए यह सुझाव दिया था कि ईश्वर के नाम पर, मैं शपथ लेता हूँ का विकल्प उपलब्ध होना चाहिए, जबकि जो व्यक्ति ऐसा नहीं करना चाहते, वे सत्यनिष्ठापूर्वक प्रतिज्ञान कर सकें। इस प्रकार उनके प्रस्ताव में ईश्वर के नाम पर शपथ और बिना किसी धार्मिक उद्घोष के प्रतिज्ञान, दोनों विकल्पों को स्थान देने का प्रयास था।

अपने प्रस्ताव के समर्थन में कामथ ने ईश्वर और मानव जीवन के संबंध को स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि फ्रांसिस थॉम्पसन की कविता द हाउंड ऑफ हेवन का उल्लेख किया। उन्होंने कहा कि मनुष्य जितना अधिक ईश्वर से दूर भागने का प्रयास करता है, ईश्वर उतनी ही अधिक तत्परता से उसका अनुसरण करता है। कविता की पंक्तियाँ हैं–fled Him down the nights and down the days, I fled Him down the arches of the years.; अर्थात मनुष्य रातों, दिनों और वर्षों के लंबे गलियारों में ईश्वर से भागता रहता है, किंतु ईश्वर अविचल गति से उसका पीछा करता रहता है।

कामथ ने अपने तर्क के समर्थन में राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद, नेताजी सुभाष चंद्र बोस और सरदार वल्लभभाई पटेल के वक्तव्यों का उल्लेख किया। उन्होंने बताया कि डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने स्वतंत्रता दिवस के संदेश में कहा था कि ईश्वर की सहायता और गांधीजी के नेतृत्व में भारत ने स्वतंत्रता का संघर्ष जीता। नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने आजाद हिंद की अस्थायी सरकार के नेतृत्व में ईश्वर के नाम पर मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कहकर शपथ ली थी। सरदार पटेल ने भी देश में स्थिरता स्थापित होने पर ईश्वर के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की थी। इन उदाहरणों के माध्यम से कामथ ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और राष्ट्रीय जीवन में आध्यात्मिक चेतना के महत्त्व को रेखांकित किया।

उन्होंने सदन को स्मरण कराया कि भारत एक अमर आध्यात्मिक विरासत का उत्तराधिकारी है। यह विरासत भौतिक अथवा सांसारिक नहीं, बल्कि आत्मा की शाश्वत विरासत है। उन्होंने आठाह किया कि भारत अपनी प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं और आध्यात्मिक प्रतिभा के प्रति सच्चा बना रहे। स्वामी विवेकानंद के विचारों का उल्लेख करते हुए उन्होंने आध्यात्मिक रूप से विश्व को जीतने की आकांक्षा व्यक्त की। अंत में महात्मा गांधी के प्रिय भजन की पंक्तियाँ उद्धृत कीं–ईश्वर-अल्लाह तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान। यह अभिव्यक्ति भारतीय परंपरा में विभिन्न आस्थाओं के समन्वय और पारस्परिक सम्मान की भावना को दर्शाती है।

कामथ के वक्तव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष पंथनिरपेक्षता की उनकी व्याख्या थी। उन्होंने उन राजनेताओं की आलोचना की, जो पश्चिमी नारों का अनुकरण करते हुए यह मानते थे कि पंथनिरपेक्ष राज्य में ईश्वर का उल्लेख वर्जित होना चाहिए। उनके अनुसार, पंथनिरपेक्ष राज्य का अर्थ ऐसा राज्य है, जो सत्य, ईश्वर और शाश्वत मूल्यों से प्रेरित हो, किंतु किसी विशेष धर्म अथवा पंथ के प्रति पूर्वाग्रह न रखता हो। उन्होंने कहा कि भारत की संस्कृति, नीतियाँ और सभ्यता आध्यात्मिक चेतना से विकसित हुई हैं। यदि इस चेतना को ही निष्कासित कर दिया जाए, तो स्वराज का वास्तविक अर्थ समाप्त हो जाएगा।

उन्होंने स्पष्ट किया कि उनके स्वप्न का स्वराज केवल राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं, बल्कि रामराज्य था। भारत की वास्तविक पीड़ा केवल राजनीतिक स्वतंत्रता खोने की नहीं, बल्कि आध्यात्मिक स्वतंत्रता के क्षीण होने की भी थी। उन्होंने सोमनाथ पर हुए आक्रमण का उल्लेख करते हुए इसे भारत की आध्यात्मिक स्वतंत्रता पर आघात बताया। उनके अनुसार, वास्तविक स्वराज का अर्थ रामराज्य था। पंथनिरपेक्षता की गलत व्याख्या का उदाहरण देते हुए उन्होंने आकाशवाणी के अधिकारियों के एक सम्मेलन का उल्लेख किया, जहाँ उनके अनुसार गीता, रामायण, कुरान और बाइबिल के पाठ को बंद करने का निर्णय लिया गया था। उन्होंने प्रश्न किया कि यदि पंथनिरपेक्षता का अर्थ यह है कि बच्चे रामायण, गीता, कुरान अथवा ग्रंथ साहिब से परिचित ही नहीं होंगे, तो ऐसी राजनीतिक स्वतंत्रता का क्या मूल्य है?

उन्होंने प्रभावशाली शब्दों में कहा कि यदि रामराज्य से ईश्वर को ही निष्कासित कर दिया गया, तो भारत राम के बिना अयोध्या बनकर रह जाएगा। उन्होंने ब्रिटिश संसद का उदाहरण देते हुए कहा कि वहाँ भी संसदीय कार्यवाही प्रार्थना के पश्चात प्रारंभ होती है। इससे ब्रिटेन को सांप्रदायिक राज्य नहीं कहा जा सकता। आयरलैंड और अन्य देशों में भी सार्वजनिक जीवन में ईश्वर को पूरी तरह विस्मृत नहीं किया गया है। अंतत: उन्होंने कहा कि भारतीय राज्य को ईश्वरविहीन राज्य के रूप में नहीं, बल्कि आध्यात्मिक चेतना और नैतिक मूल्यों से संपन्न राज्य के रूप में देखा जाना चाहिए। यही उनके अनुसार भारतीय पंथनिरपेक्षता का अर्थ था।

इस बहस का महत्त्व केवल शपथ के प्रारूप तक सीमित नहीं है। यह भारत की सभ्यतागत विरासत और संवैधानिक पहचान के बीच संबंधों पर संविधान निर्माण के समय उपस्थित वैचारिक विमर्श को सामने लाती है।

बॉम्बे उच्च न्यायालय की हालिया टिप्पणियाँ हमें इन ऐतिहासिक बहसों की ओर लौटने का अवसर देती हैं। वर्तमान पीढ़ी, विशेषकर न्यायाधीशों, विधिवेत्ताओं और संवैधानिक संस्थाओं से जुड़े व्यक्तियों के लिए संविधान सभा की बहसों का अध्ययन आवश्यक है। भारतीय पंथनिरपेक्षता को समझने के लिए संवैधानिक निष्पक्षता के साथ भारत की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

संविधान सभा की 27 दिसंबर 1948 की बहस हमें स्मरण कराती है कि भारतीय पंथनिरपेक्षता केवल एक राजनीतिक अवधारणा नहीं, बल्कि भारत की संवैधानिक और सभ्यतागत पहचान से जुड़ा गंभीर वैचारिक प्रश्न भी है। इन बहसों का पुनर्पाठ संविधान को उसकी मूल भावना और ऐतिहासिक संदर्भों में समझने की दिशा में आवश्यक कदम है।

–सूर्यप्रतापसिंह राजावत,
अधिवक्ता राजस्थान उच्च न्यायालय जयपुर

राशिफल



पंडित अनिल शर्मा

सोमवार 16 नवम्बर, 2026

कार्तिक मास, शुक्ल पक्ष, सप्तमी तिथि, सोमवार, विक्रम संवत-2083, श्रवण नक्षत्र रात्रि 2:17 तक, गंड योग प्रात: 5:16 तक, गर करण दिन 3:11 तक, चन्द्रमा आज मकर राशि में संचार करेगा।

**ग्रह स्थि